

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

ऋषि प्रकरण

द्वितीयेऽह्नि प्रभाते च कृतनित्यक्रिया दश।

प्रमुखा ऋषयस्तत्र नेतृत्वे नारदस्य ते॥ १॥

देवतात्मन एतस्य हिमाद्रेश्भाग संस्थितम्।

पश्यन्तः प्रकृतेरम्यं सौन्दर्यं कंदरां ययुः॥ २॥

आत्मविज्ञान-सन्धान-कर्तारो यासु कर्हिचित्।

ऊर्ध्वैर्मृग्यते पन्थाः समृद्धेः प्रगतेर्नृणाम्॥ ३॥

टीका—दूसरे दिन प्रभातकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर दस प्रमुख ऋषि-मनीषियों की मंडली देवर्षि नारद के नेतृत्व में हिमालय के देवात्मा भाग का प्रकृति सौंदर्य का पर्यवेक्षण करते हुए उन कंदराओं की ओर चले, जिनमें कभी आत्मविज्ञान के अनुसंधान कर्ता निवास करते थे और वह खोजते थे जिसके ऊपर व्यक्ति और समाज की प्रगति एवं समृद्धि अवलंबित है ॥ १-३ ॥

देवर्षिश्च प्रवासे स ऐतिह्यं तद् विवेचयन्।

चचालाथ महत्त्वं तदुत्तराखण्डजं ह्यभूत्॥ ४॥

निवासेन तु देवानामृषीणां तपसा तथा।

स्वानुकूलं स्थलं श्रेष्ठमिदं तैर्दृष्टमद्भुतम्॥ ५॥

क्षेत्रेऽस्मिन् स्वमभीष्टं ते प्राप्तुं तन्मयतां गताः।

अवात्सुरनयोः कार्यैः कृतकृत्या मनुष्यता॥ ६॥

आध्यात्मिक्यस्तु संप्राप्ता भौतिक्यो या विभूतयः।

क्षेत्रेऽस्मिंस्ता न चेल्लब्धा अभविष्यन् विभूतयः॥ ७॥

नात्यक्षयन् दुर्गतिं मर्त्या तत्रस्था स्यान्मनुष्यता।

क्षेत्रेषु च बहुष्वेषा पशुपक्षि - समा भवेत्॥ ८॥

टीका—देवर्षि प्रवास में चर्चा करते हुए कहते चल रहे थे। उत्तराखंड की गरिमा देवताओं के निवास और ऋषियों के तप साधन से बन पड़ी है। उन्होंने अपने लिए अनुकूलता का यह सर्वश्रेष्ठ स्थान देखा और इसी क्षेत्र में तन्मयता पूर्वक अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति हेतु बस गए। इन दोनों द्वारा जो

कार्य बन पड़े उनसे समूची मनुष्य जाति कृतकृत्य बनी। आत्मिकी और भौतिकी की जो विभूतियाँ इस क्षेत्र में खोजी गईं यदि वे न मिलतीं तो मनुष्य दुर्गति से नहीं निकल पाते तथा सारी मनुष्य जाति नितांत गई गुजरी स्थिति में पड़ी रहती। उसे अनेक क्षेत्रों में पशु-पक्षियों से भी गई-गुजरी स्थिति में पड़ा रहना पड़ता ॥ ४-८ ॥

यात्रायां विविधान् तांश्च प्रसंगास्तु पुरातनान्।

अगाद् विवेचयद् व्यासगुहां पुण्यां तु मंडलम्॥ ९॥

बद्रीधामतश्चेयमग्रे सन्निकटे स्थिता।

वसुधारा प्रपातस्य पीयूषोपमितस्य तु॥ १०॥

अष्टादशपुराणानि कृष्णद्वैपायनो मुनिः।

रचयामास ज्ञानस्य निधीन् सर्वविधस्य सः॥ ११॥

सहयोगं गणेशस्य कार्येऽस्मिन् प्राप सः मुनिः।

लोककल्याण - लग्नानां नृणां सन्मनसां सुराः॥ १२॥

कुर्वते मुक्तहस्तेन साहाय्यं सर्वदैव ते।

शृण्वन्तः प्रार्थनां चैव पूरयन्ति मनोरथान्॥ १३॥

अतः पूर्वं च पश्यन्ति याचते कः कथं तथा।

परीक्षैषा च प्रत्येकक्षेत्रे वैचारिकेऽस्ति च॥ १४॥

टीका—यात्रा में अनेक पुरातन प्रसंगों की चर्चा करते हुए मंडली महर्षि व्यास की गुफा पर पहुँची। यह बद्रीनाथ धाम से आगे अमृततुल्य वसुधारा जल प्रपात के निकट है। यहाँ निवास करते हुए द्वैपायन ने सब प्रकार के ज्ञानों के भंडार अठारह पुराणों की रचना की थी। इस कार्य में उन्हें गणेश का अनवरत सहयोग मिला था। देवता लोकमंगल के सत्प्रयोजन में निरत सदाशयता संपन्न लोगों की मुक्तहस्त से सहायता करते हैं। वे प्रार्थना सुनते हैं और कामना की पूर्ति भी करते हैं। पर इससे पूर्व यह भी देखते हैं कि कौन माँगता है? किस प्रयोजन के लिए माँगता है? ऐसी परख हर विचारशील क्षेत्र में होती है ॥ ९-१४ ॥

पुरस्कृतानि जायन्ते सत्यात्राणि न संशयः ।
कुर्वते परमार्थस्य त्रिविधायां तु ये नराः ॥ १५ ॥
परीक्षायां निजान् पूर्णान् दृढांस्तत्र प्रमाणितान् ।
अलसाः स्वार्थिनो हेयस्तरा लोका यदि स्वयम् ॥ १६ ॥
भिक्षुका इव याचन्ते तस्करा इव वा पुनः ।
लिप्सा - पूर्त्यै च देवानामनुकंपा तु केवलम् ॥ १७ ॥
उपहारच्छलेनैते निराशां यान्ति निश्चितम् ।
एते पशुसमानां च भजन्ते वृत्तिमन्ततः ॥ १८ ॥

टीका—सत्यात्र ही पुरुष्कृत किए जाते हैं, इसमें संदेह नहीं और पुरुषार्थ की त्रिविधि परीक्षाओं में अपने को खरा प्रमाणित करते हैं। स्वार्थी, आलसी और हेय स्तर के लोग यदि भिक्षुकों या तस्करों की तरह लिप्सा पूर्ति के लिए देवताओं की अनुकम्पा मात्र मनुहार उपहार के बदले सस्ते मोल में माँगते हैं, तो उन्हें निराश ही होना पड़ता है। अन्ततः पशुओं के समान उदरादि पूर्ति में ही जीवन नष्ट कर देते हैं ॥ १५-१८ ॥

उच्चं लक्ष्यं गतो व्यासो यः कथामाध्यमेन च ।
जनं साधारणं धर्मधृतिमादर्शवादिताम् ॥ १९ ॥
ग्रहीतुं प्रेरयामास यमुद्दिश्य लिलेख सः ।
नाहंकारो निजस्तस्य न लोभः स्वार्थ एव वा ॥ २० ॥
यल्लिलेख महर्षिः स आदर्शान् परिशोधितुम् ।
तदभूत्केवलं गूढो विषयो ज्ञानतत्त्वगः ॥ २१ ॥
तज्ज्ञानं ज्ञापनं चैव विद्वद्गोणं संभवम् ।
सामान्यानां कथाशैली नृणां रूचिकरीत्विह ॥ २२ ॥
बालावृद्धायुवानोवाऽशिक्षिताः शिक्षिता अपि ।
कथां शृण्वन्तिजानन्ति स्वीकुर्वन्त्यपि चाञ्जसा ॥ २३ ॥

टीका—व्यास का उद्देश्य ऊँचा था। वे कथा-माध्यम से जन साधारण को धर्मधारणा और आदर्शवादित अपनाने की प्रेरणा देने का उद्देश्य लेकर लेखन कार्य में निरत हुए थे। उनका निजी स्वार्थ लोभ या अहंकार उसमें तनिक भी नहीं था। जो लिखा केवल आदर्शों के परिशोधन हेतु था। तत्त्व ज्ञान का विषय गूढ़ है। उसे समझना-समझाना विद्वान् वर्ग के लिए ही सम्भव है। सर्व साधारण को कथा शैली रुचिकर लगती है। उसे बाल-वृद्ध, शिक्षित, अशिक्षित सभी सरलता पूर्वक समझते और अपनाते हैं ॥ १९-२३ ॥

वर्गमेतं विचार्यैव व्यासो लेखं लिलेख सः ।
शिवपुत्रो गणेशश्च दृष्ट्वोद्देश्यस्य पावनीम् ॥ २४ ॥
महत्तामाजगामाशु विशेषमाग्रह विना ।
प्रयोजने मह्यस्मिन् सहयोगसमीहया ॥ २५ ॥
व्यासोऽवदल्लिलेखासौ गणेशोऽनारतं समम् ।
महाभारत मिथ्यं तत्पुराणान्यपि चान्ततः ॥ २६ ॥
अल्पेनैव च कालेन गतान्येतानि पूर्णताम् ।

आरण्यकेषु तच्छ्रिया व्यधुस्तेषां प्रतीरपि ॥ २७ ॥
कृतस्तेषां विस्तरश्च विद्वद्भिर्जगतौतले ।
जातो जगद्गुरुर्लोक - हितसाधनायाऽनया ॥ २८ ॥
नमन्ति चरणौ व्यास-पूर्णमायां जनास्ततः ।
जातेयं विश्रुता लोके पूर्णिमा गुरुपूर्णमा ॥ २९ ॥
अविच्छिन्ना विधातव्या सेयं दिव्यपरम्परा ।
अस्माभिरपि कालेऽस्मिन् भीषणे भ्रान्तिपूरिते ॥ ३० ॥

टीका—व्यास ने इसी वर्ग को ध्यान में रखकर लेखनी उठाई। शिवपुत्र गणेश ने उद्देश्य की महानता को देखा और बिना आह्वान निमंत्रण की प्रतीक्षा किए उस महान प्रयोजन में सहायता करने के लिए स्वयं जा पहुँचे। व्यास बोलते और गणेश लिखते गए। इस प्रकार महाभारत आदि अठारह-पुराण थोड़े से समय में पूरे हो गए। उनकी प्रतिलिपियाँ अनेक तीर्थ आरण्यकों में हुईं और उनका विस्तार विद्वज्जनों द्वारा समस्त संसार में हो गया। इसी लोकहित साधना से यह जगद्गुरु कहलाए तथा व्यास पूर्णिमा के दिन सारा संसार इनके चरणों की वंदना करता है, इनकी यह व्यास पूर्णिमा गुरुपूर्णमा बन गई। भ्रांति से भरे पूरे इस भीषण युग में हमें इस दिव्य परंपरा को अविच्छिन्न बनाए रखना है, ताकि लोक कल्याण हो सके ॥ २४-३० ॥

देवर्षिः श्रावयामास सोऽन्यत्सृष्टं सुविस्तृतम् ।
लोकचित्त - परिष्कार - कर्तुं साहित्यमुत्तमम् ॥ ३१ ॥
आश्रमेषु च केष्वेताः स्मृतयस्तु विनिर्मिताः ।
ऋषिभिः कैः कदेत्येवमैतिह्यं विस्तराज्जगौ ॥ ३२ ॥
परिवर्तनमायाते काले कालानुसारतः ।
नूतनान्यपि शास्त्राणि निर्मेयानि बुधैः सदा ॥ ३३ ॥
विपरीतासु सदा मान्याः स्थितिष्वत्र तु कानिचित् ।
प्रतिपादनकान्येवं गच्छन्त्यनुपयोगिताम् ॥ ३४ ॥
तत्स्थाने च नवीनं हि संस्कृतं परिवर्तनम् ।
अपेक्ष्यते नवाश्चातो धर्मग्रंथा विनिर्मिताः ॥ ३५ ॥
चतुर्विंशतिसंख्यानां स्मृतीनां नारदो मुनिः ।
नामान्यजीगणद् भिन्न - समये लिखितास्तु याः ॥ ३६ ॥

टीका—देवर्षि ने लोकमंगल के परिष्कार में निरत अन्यान्य ऋषियों के उत्तम साहित्य सृजन का विवरण सुनाया। स्मृतियाँ किन आश्रमों में किन ऋषियों द्वारा विनिर्मित हुईं इसका इतिहास उन्होंने विस्तारपूर्वक रास्ता चलते-चलते सुनाया। समय बदल जाने पर नए समय की आवश्यकता के अनुरूप नए शास्त्रों का सृजन विद्वानों को करना पड़ता है। हे मान्य मनीषियो कुछ पुराने प्रतिपादन परिस्थिति बदल जाने पर अनुपयोगी हो जाते हैं। तब उनके स्थान पर नए सुधार परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ती है। नए धर्मग्रंथों के निर्माण का यही उद्देश्य रहा है। नारद जी ने चौबीस प्रमुख स्मृतियों

६.८ प्रज्ञोपनिषद्

के नाम गिनाए, जो भिन्न-भिन्न समय में लिखी गई थीं ॥
३१-३६ ॥

शास्त्रनिर्माणकर्तृणां साधनां लेखनस्य तु ।
योगाभ्यास तपोऽभ्यास - प्रकारां घोषयन्मुनिः ॥ ३७ ॥
स्थानान्येषां च नामानि यथावग्रे विबोधयन् ।
वक्तव्यं स्वं यथापूर्वं कृत्वाऽऽरब्धमुवाच च ॥ ३८ ॥
निर्धारणानि गंभीरविचारानुसृतानि च ।
विज्ञानाविष्कृतिर्नूनेमेकान्तोत्पाद्यतां गता ॥ ३९ ॥
वातावृतौ सुयोग्यायां कार्याण्येवं विधानि तु ।
संभवन्ति मनोबुद्धियोग - योग्यानि वै यतः ॥ ४० ॥
साहित्यसृजने तूच्चं स्रष्टुः स्वीया परिस्थितिः ।
विचारपद्धतिः शान्ता स्युः सा दैनन्दिनी तथा ॥ ४१ ॥

टीका—शास्त्रकारों की लेखन साधना को योगाभ्यास और तप साधना का ही एक प्रकार ठहराते हुए सृजन कर्त्ताओं के नामों और स्थानों का दर्शन कराते हुए देवर्षि जिज्ञासु मंडली समेत आगे बढ़ते गए। अपने वक्तव्य को जारी रखते हुए उन्होंने कहा गंभीर विचार-निर्धारण भी वैज्ञानिक आविष्कारों जैसे ही एकांत में बन पड़ने वाला उपयुक्त वातावरण में मन व बुद्धि की एकाग्रता से संभव हो सकने वाला कार्य है। उच्चस्तरीय साहित्य सृजन में सृजेता की जीवनचर्या, विचारपद्धति एवं परिस्थिति सात्विकता से भरी पूरी होनी चाहिए ॥ ३७-४१ ॥

निर्धारकास्तु ये देवसंस्कृते स्तेऽस्य पूर्तये ।
उद्देश्यस्य सतः सृष्टिं साहित्यस्य तु मेनिरे ॥ ४२ ॥
आत्मालोको भयोर्भव्यं पुण्यं कार्यं समन्वितम् ।
शक्तिरात्मरुचिर्येषां योग्याऽभूज्जीवने स्वके ॥ ४३ ॥
तत्र तन्मयता पूर्व जाता लग्ना निरन्तरम् ।
परमार्थप्रयासं ते प्रभु शक्तिं च मेनिरे ॥ ४४ ॥
पूजा भगवतः सत्या क्रियते कर्मभिः शुभैः ।
पूजाया उपहारस्य वाञ्छा नैवेश्वरस्य तु ॥ ४५ ॥

टीका—देव संस्कृति के निर्धारकों ने उस ऊँचे उद्देश्य की पूर्ति के लिए सत्साहित्य सृजन को आत्म-कल्याण और लोकमंगल का समन्वित पुण्य कार्य माना और जिन्हें उसके उपयुक्त अपनी क्षमता एवं आत्मरुचि प्रतीत हुई उसमें वे तन्मयता पूर्वक आजीवन लगे रहे। यह परमार्थ प्रयास ही उनके लिए ईश्वर भक्ति थी। भगवान की सच्ची पूजा सत्कर्मों से ही की जाती है। उन्हें मनुहार उपहार की न इच्छा रहती है, न आवश्यकता। ऋषियों में से जो साहित्य-सृजेता थे उन्हें वह समग्र श्रेय प्राप्त हुआ जो भगवद् भजन से प्राप्त होता है ॥ ४२-४५ ॥

ऋषीणां ये च साहित्य - स्रष्टारः श्रेय उत्तमम् ।
समग्रं लब्धमेतैस्तद् भक्त्या यत्प्राप्यते नरैः ॥ ४६ ॥

अद्य प्रवासे तेषां स परिव्राजां मनीषिणाम् ।
निवासान् दर्शयामास येषु चात्मपरिष्कृतेः ॥ ४७ ॥
हेतोस्तपोऽभिवृद्धेस्ते न्यवात्सुरिह सन्ततम् ।
मनः स्थितौ सुपक्वायां तीर्थयात्रां च कुर्वते ॥ ४८ ॥
पदयात्रा तु धर्मार्थं तीर्थयात्रा निगद्यते ।
अतो मार्गेऽभियाता ये तेषां चित्तस्थितेस्तथा ॥ ४९ ॥
परिस्थितेः स्वरूपेण सर्वानुपदिशन्त्यपि ।
रात्रौ तिष्ठन्ति यत्रैव कथाकीर्तनमप्यलम् ॥ ५० ॥
तत्र ते कुर्वते धर्मचेतनाया नवांकुरान् ।
वपन्त्येव च सिञ्चन्ति परिपक्वांश्च कुर्वते ॥ ५१ ॥

टीका—आज के प्रवास में नारद ने उन परिव्राजक मनीषियों के स्थान दिखाए जिनमें आत्मशोधन और तपोबल संवर्द्धन के निमित्त हिमाचल क्षेत्र में निवास करते थे और फिर अपनी मनःस्थिति परिपक्व होते ही तीर्थयात्रा पर निकल पड़ते थे। धर्म प्रचार की पदयात्रा ही तीर्थयात्रा है। मार्ग में जो मिले उन्हें उनकी मनःस्थिति एवं परिस्थिति के अनुरूप परामर्श देते चलते थे। रात्रि को जहाँ ठहरते थे, वहाँ कथा-कीर्तन के माध्यम से धर्म चेतना का बीजाकुर बोते उगाते, सींचते एवं परिपक्व करते थे ॥ ४६-५१ ॥

गृहेस्थिता जना देवमानवानां यदृच्छया ।
आगतानां लभन्ते चेत्सत्संगं मार्गदर्शनम् ॥ ५२ ॥
उज्ज्वलोत्तरमेतत्तु वरदानायितं नृणाम् ।
भवन्तिस्म च तीर्थेषु पर्वगायोजनान्यपि ॥ ५३ ॥
संगता ऋषयस्तत्र कालिकीस्ताः परिस्थिताः ।
विचार्योपायमप्यासां निर्दिशन्ति सदैव च ॥ ५४ ॥
आयोजनेषु तेष्वेते धर्मात्मानो जनाः समे ।
सम्मिलन्ति विशालायां संख्यायामुत्सुका भृशम् ॥ ५५ ॥
क्षेत्रेषु च निजेष्वेते मुनिनिर्धारणानि तु ।
क्रियान्वितानि कर्तुं चायान्ति दायित्वसंयुताः ॥ ५६ ॥
कुंभादीनां तु जागृत्यै क्षेत्रजानामथापि च ।
स्थानजानामुत्सवानामुपयोगित्वमस्ति तत् ॥ ५७ ॥
ऋषयः कुर्वते तेषां सूत्रसञ्चालनं सदा ।
चातुर्मासे व्यधुर्मुख्यं सत्संगोपक्रमं स्वकम् ॥ ५८ ॥
दूरस्था अपि चागत्य जनास्तिष्ठन्ति तत्र च ।
विकसितं जीवनं कर्तुं समाजोन्तिकारिकाम् ॥ ५९ ॥
महत्त्वमहितां सर्वे व्यवस्थां प्राप्नुवन्त्यपि ।
तेन सन्तुलनं तत्र समाजे तिष्ठति स्वयम् ॥ ६० ॥

टीका—घर बैठे देव मानवों का सत्संग मिलना और उनके परामर्श से उज्ज्वल भविष्य का मार्ग दर्शन प्राप्त होना वरदान प्राप्त होना जैसा है। तीर्थों में समय-समय पर पर्व आयोजनों की व्यवस्था बनती थी। ऋषिगण उनमें एकत्रित होकर सामयिक परिस्थितियों के संबंध में विचार विनिमय

करते और उपाय निकालते थे। उन आयोजनों में धर्म प्राण उत्सुक लोग बड़ी संख्या में पहुँचते थे, और अपने-अपने क्षेत्र में ऋषि निर्धारणों को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व ओढ़कर वापस लौटते थे। कुंभ पर्वों से लेकर क्षेत्रीय, स्थानीय अनेकानेक धार्मिक मेलों का होते रहना जन जागृति की दृष्टि से अतीव उपयोगी सिद्ध होता था। ऋषियों द्वारा उनका सूत्र संचालन होता था। चातुर्मास में वे अपना विशेष सत्संग उपक्रम रखते थे, जिसमें दूर-दूर के लोग आकर वहाँ ठहरते और जीवन को विकसित करने तथा समाज को समुन्नत बनाने वाले महत्वपूर्ण परामर्श प्राप्त करते थे। इसी से उस समय समाज में संतुलन बना रहता था ॥ ५२-६० ॥

छात्रा अपि प्रयान्त्येवं तीर्थयात्रागतौ सदा।

ऋषिभिः सह दिव्यैस्तैः सदाचारयुतैः सदा ॥ ६१ ॥

अधीयानाश्च ते विद्याश्चारयन् गाश्च तत्र तु।

सह पर्यटनेनैव समस्या जीवनोद्भवाः ॥ ६२ ॥

सकारणाश्च विज्ञाय विचार्यापि निवारणम्।

स्वकीयं ज्ञानभण्डारं वर्द्धयन्ति निरंतरम् ॥ ६३ ॥

कारणं चेदमेवाभूद् यद् हिमालयवासिनः।

ऋषय आत्मशक्तेस्तु व्यक्तिगाः साधनास्तुताः ॥ ६४ ॥

संपाद्याविरतं सर्वे प्रवासे निवसन्ति च।

मिथ्याडंबर हीनास्ते पावयन्ति जनं जनम् ॥ ६५ ॥

शिष्या अपि च तैः सार्धं समयेऽस्मिन् सदैव च।

निवसन्तः स्वयं सिद्धाश्चलन्त्यभ्युदयाध्वनि ॥ ६६ ॥

प्रायो गुरुकुलानां तु चलनं भ्रमतां सदा।

अभूदृषिकुलानां च लोकसंपर्क - कारणात् ॥ ६७ ॥

विद्यालया अतस्तत्र भव्यशालास्तु केचन।

न्यूना एवं बभूवुश्च निर्मितास्ते सुसज्जिताः ॥ ६८ ॥

टीका—उन सदाचारी दिव्य ऋषियों के साथ तीर्थयात्रा पर छात्र मंडली भी चलती थी। विद्यार्थी विद्याध्ययन करते गौएँ चराते एवं पर्यटन के समय जनजीवन की अनेकानेक समस्याओं स्वरूप कारण एवं निवारण समझते हुए ज्ञान भंडार को निरंतर बढ़ाते चलते थे। यही कारण था कि हिमालयवासी ऋषिगण कुछ समय आत्मबल संपादन की व्यक्तिगत साधनाएँ संपन्न करने के उपरांत निरंतर प्रवास में रहते थे। अपनी मिथ्याडंबरहीनता से प्रत्येक व्यक्ति को पवित्र हृदय बना देते थे। इसी बीच उनके शिष्यगण साथ रहते चलते जीवन साधना द्वारा सर्वतोमुखी अभ्युदय का पथ-प्रशस्त करते रहते थे। उन दिनों लोक संपर्क की दृष्टि से भ्रमणशील ऋषिकुलों-गुरुकुलों का अधिक प्रचलन था। अतएव भव्य भवनों वाले साज-सज्जायुक्त स्थिर विद्यालय कम ही निर्मित होते थे ॥ ६१-६८ ॥

विद्यते वैभवं सत्यं सञ्ज्ञानं मानवस्य तु।

तदाश्रित्य विकासं च व्यक्तित्वं भजते दृढम् ॥ ६९ ॥

प्रतिभा पक्वतायां तु विद्यते ज्ञानसंपदः।

इहासाधारणं योगदानं हितकरं नृणाम् ॥ ७० ॥

संसारस्य समस्तस्य मानवानां विशेषतः।

सेवा सञ्ज्ञानवृद्धेः सा जायते तुष्टिदाऽऽत्मने ॥ ७१ ॥

दत्तौषधमथेहान्न - वस्त्रादीनि च कस्यचित्।

सेवाकृता भवेन्नैव स्थायिनीति विविच्यताम् ॥ ७२ ॥

पुरुषार्थेन निजेनैव तीर्त्वा कष्टानि संभवेत्।

नरः समुन्नतो लोके सुखी चैव निरंतरम् ॥ ७३ ॥

सञ्ज्ञानं च विना नैव स्वरूपं पुरुषार्थगम्।

विवेको व्यवहारस्य तस्य लोके च संभवेत् ॥ ७४ ॥

कुर्वते ज्ञानदानं ये श्रेष्ठास्ते दानिनो मताः।

अपरिग्रहिणस्तत्त्वदर्शिनः साधवो मताः ॥ ७५ ॥

सञ्चितेन विवेकेन कुबेरादपि वस्तुतः।

नरा आढ्यतरा आढ्यान् कुर्वते दयया नरान् ॥ ७६ ॥

टीका—मनुष्य का सच्चा वैभव सदज्ञान है। उसी आधार पर प्रखर व्यक्तित्व विकसित होते हैं। प्रतिभा परिपक्व करने में ज्ञान संपदा का हितकारी असाधारण योगदान रहता है। मानव जाति की समस्त संसार की सेवा सदज्ञान संवर्द्धन से ही होती है। इसी से आत्मसंतोष भी प्राप्त होता है। अन्न, वस्त्र, औषधि आदि देकर किसी की स्थाई सेवा नहीं हो सकती, यह प्रत्येक को विचारना चाहिए। अपने पुरुषार्थ से ही कठिनाइयों को उबरा और सुखी-समुन्नत बना जाता है। पुरुषार्थ का ही सही स्वरूप और उसे अपनाए रहने का विवेक सदज्ञान के बिना और किसी प्रकार संभव नहीं। ज्ञान-दान करने वालों को सबसे बड़ा दानी माना गया है। इसलिए तत्त्वदर्शी अपरिग्रही संत संचित विवेकशीलता के कारण कुबेर से बढ़कर संपत्ति वाले माने गए हैं। वे जिस पर भी अनुग्रह करते हैं, उसे धनवान बना देते हैं ॥ ६९-७६ ॥

क्षमा बोधयितुं तेऽपि शिष्टाचारं तु लौकिकम्।

सामान्याः शिक्षकाः सर्वे परं स्यात्तु यया ध्रुवम् ॥ ७७ ॥

गुणकर्म स्वभावानां परिष्कारस्तथा भवेत्।

स्फीतं व्यक्तित्वमत्यर्थं मर्त्यं - गौरवरूपगम् ॥ ७८ ॥

महत्त्वमुद्भवेत्तां तु प्रेरणामृषयः पराम्।

दातुमत्र समर्थास्तु स्वयं सिद्धास्तपस्विनः ॥ ७९ ॥

अध्यापका अनेकेऽत्र संति नूनं तथापि ये।

प्राणचेतनयात्वन्यान् संपर्के समुपागतान् ॥ ८० ॥

कुर्वते प्रखर - प्राणानीदृशा देव मानवाः।

ऋषितुल्यास्तु लोकेऽस्मिन्न्यूना एव भवंति तु ॥ ८१ ॥

ये भवंति समे ते तु ज्ञानेनैव सह स्वयम्।

उत्कृष्टताऽमृतं सर्वान् पाययन्ति निरंतरम् ॥ ८२ ॥

दृष्टिं स्फीतां च कुर्वन्ति दिशायां जीवनस्य च।

६.१० प्रज्ञोपनिषद्

उच्चैस्तरं महामूल्यं कुर्वते परिवर्तनम् ॥ ८३ ॥

टीका—लोक व्यवहार की जानकारी तो सामान्य शिक्षक भी दे सकते हैं। पर जिससे गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार हो व्यक्तित्व निखरे एवं मानवीय गरिमा के अनुरूप महानता का उद्भव हो ऐसी अंतःप्रेरणा मात्र स्वयं सिद्ध तपस्वी ऋषि ही दे सकते हैं। अध्यापक अनेकों होते हैं पर जो अपनी प्राण चेतना से संपर्क में आने वालों का प्राण उभार सके, ऐसे ऋषि कल्पदेव मानव कम ही होते हैं। जो होते हैं वे ज्ञान के साथ-साथ सदा उत्कृष्टता का अमृत पिलाते हैं, दृष्टिकोण बदलते हैं और जीवन की दिशाधारा में उच्चस्तरीय महान् परिवर्तन करते हैं ॥ ७७-८३ ॥

कृत्वा गौरवपूर्णं च व्यक्तित्वं सञ्चितां निजाम्।

भूमिमाश्रित्य तेषां च पौरुषं योजयन्त्यलम् ॥ ८४ ॥

परिष्कारे नृणामन्तः करणस्य सदैव च।

एष एव मतो लोक ऋषिधर्मः सनातनः ॥ ८५ ॥

अस्मै प्रयोजनायैते योजनाः कालिकीः सदा।

स्थिरयन्ति यथायोग्यं चालयन्ति पुरागमान् ॥ ८६ ॥

महत्त्वं नास्ति लोकेऽस्मिन्नुच्चता कारणादथ।

प्रकृतेः संपदाया वा परं वासस्य कारणात् ॥ ८७ ॥

ऋषीणामस्ति तेषां तु यैरुप्ता ज्ञानसंपदा।

कृताऽप्यंकुरिता जाताः स्थितयः सुखदा यथा ॥ ८८ ॥

कृतयुगः स हि नैवान्यत् कर्मणां सत्फलं विना।

मुनिभिर्बोधितस्यास्य सञ्ज्ञानस्य तु केवलम् ॥ ८९ ॥

उत्पादनमिदं यत्र क्षेत्रे सञ्जायते सदा।

देवात्मेत्युच्यते क्षेत्रं सार्थकं तत्तु सर्वतः ॥ ९० ॥

टीका—इसलिए व्यक्ति त्व को गौरवशाली बनाने के उपरांत वे इस संचित विभूति के आधार पर अपने उदार पुरुषार्थ का उपयोग जन-जन का आंतरिक परिष्कार करने में लगाते हैं। यही सनातन ऋषि धर्म है। इस प्रयोजन के लिए वे समयानुसार अनेक योजनाएँ बनाते व कार्यक्रम चलाते रहते हैं। महानता ऊँचाई एवं प्रकृति संपदा के कारण नहीं, निवास करने वाले उन ऋषियों के कारण है जिनने इस क्षेत्र में ज्ञान संपदा बोई, उगाई और उससे सर्वत्र प्रगति और संपत्ति भरी, सुखद परिस्थितियाँ बनायीं। पुरातन काल का सतयुग और कुछ नहीं केवल मुनि मनीषियों द्वारा उत्पन्न किए और बखरे गए सदज्ञान का ही प्रतिफल था। यह उत्पादन जिस क्षेत्र में होता रहे उसे देवात्मा कहा जाना हर दृष्टि से सार्थक है ॥ ८४-९० ॥

सञ्ज्ञानविग्रहा देवा ऋषयः स्थापनां व्यधुः।

वातावृतौ शुभायां ते तीर्थानां पुण्यदायिनाम् ॥ ९१ ॥

गतयो विधयस्तत्रारण्यकस्तरगाः सदा।

चलन्ति स्म व्यतीते च जीवनस्यार्धभागके ॥ ९२ ॥

प्रयोजनेषु संसारसंबंधिषु च युञ्जते।

उत्तरार्द्धपरार्थेषु देवसंस्कृतिगा नराः ॥ ९३ ॥

वानप्रस्थस्तरेणैव जीवन्तीह व्यवस्थितिः।

तेषामध्यापनस्या - भूदध्यासस्यकृते तथा ॥ ९४ ॥

तपसोऽपि तथा तत्र केन्द्रेष्वेव तु सादरम्।

नेशुराधय एतेन व्याधयो भास्वतेव तु ॥ ९५ ॥

टीका—सदज्ञान के शरीरधारी देवता ऋषियों ने अनुकूल वातावरण में अनेकानेक पुण्यदायी तीर्थों की स्थापना की। उन सभी में आरण्यक स्तर की गतिविधियाँ चलती थीं। आधा जीवन सांसारिक प्रयोजन में लगाने के उपरांत देव-संस्कृति के सच्चे अनुयायी जीवन का उत्तरार्द्ध परमार्थ प्रयोजन में लगाते थे। वानप्रस्थ स्तर का जीवन जीते थे। उसके लिए आवश्यक अध्यापन अभ्यास एवं तप साधन की व्यवस्था उन्हीं धर्म केंद्रों में ससम्मान रहती थी। उनके वहाँ निवास से मानसिक आधियाँ (कष्ट) उसी प्रकार से नष्ट हो जाती हैं, जैसे तेजस्वी सूर्य के प्रभाव से शारीरिक व्याधियाँ ॥ ९१-९५ ॥

जनाः साधारणा अत्र प्रायश्चित्तं तु पापजम्।

कर्तुमायान्ति स्वं तच्च भविष्यत्कर्तुमुज्ज्वलम् ॥ ९६ ॥

निश्चेतुं च तदर्थं ते नव्यान् गतिविधीन् शुभान्।

व्यपैत्यनेन तेषां स बुद्धेः ज्वर इव समः ॥ ९७ ॥

सावकाशा जनाः स्वस्य साधनायै तु यत्रतः।

जीवनस्य व्रजन्ति स्म नित्यमारण्यकेषु ते ॥ ९८ ॥

व्यवहारे तथा स्वस्य दृष्टिकोणे शुभोदयम्।

उच्चस्तरं समावेशं कृत्वा प्रत्याव्रजन्त्यपि ॥ ९९ ॥

चचालारण्यकेष्वेषा नियता कल्पसाधना।

संस्कारांश्च शिशूनां ते व्रत धारणमुज्ज्वलम् ॥ १०० ॥

वयस्क्रानां तथा श्राद्ध - तर्पणं स्वर्गगामिनाम्।

पितृणामेषु माहात्म्यमसंख्यं प्रोक्तमन्यतः ॥ १०१ ॥

टीका—साधारण जन यहाँ पापों का प्रायश्चित्त करने उज्ज्वल भविष्य की संरचना के लिए अभिनव गतिविधियाँ निर्धारित करने के निमित्त आते थे। इससे उनकी बुद्धि में समाई कुंठित भावनाएँ दूर हो जाती थीं। अवकाश के समय जीवन साधना के लिए लोग आरण्यकों में पहुँचते थे और अपना दृष्टिकोण व्यवहार में उच्चस्तरीय समावेश करके वापस लौटते थे। ऐसी कल्प साधना सभी आरण्यकों में नियमित रूप से चलती थी। बालकों के संस्कार, वयस्कों के व्रत धारण, सब दिवंगतों के श्राद्ध-तर्पण तीर्थ आरण्यकों में करने का माहात्म्य साधारण स्थानों की अपेक्षा असंख्य गुना अधिक माना गया है ॥ ९६-१०१ ॥

सजीवानि तु तीर्थानि प्रोच्यन्ते स्म महर्षयः।

तदा तीर्थात्मतां याता मन्यन्तेऽपि सदाश्रयात् ॥ १०२ ॥

वसन्ति यत्र तान्येव यान्ति स्थानानि तीर्थताम् ।
 तीर्थावगाहि मर्त्यानां जीवनेऽभूत्यरिष्कृतिः ॥ १०३ ॥
 ऋषिव्यक्तिगता योगसाधनाऽथापि तत्तपः ।
 एतदर्थमभूतां ते यान्तु सज्ज्ञानसन्निधिम् ॥ १०४ ॥
 भूतिसंपदया ते च तया कुर्वन्ति संततम् ।
 व्यवस्थां सकलां जीवकल्याणानुगतां शुभाम् ॥ १०५ ॥
 टीका—ऋषियों को सजीव तीर्थ कहा जाता था। उन्हें सत् की आराधना व सिद्धि से तीर्थ की आत्मा कहा जाता था। जहाँ वे रहते थे, वहीं तीर्थ बन जाते थे। तीर्थों का अवगाहन करके मनुष्यों की जीवनचर्या में आशाजनक सुधार परिवर्तन होता था। ऋषियों की व्यक्तिगत योग साधना और तपश्चर्या इसी निमित्त थी कि वे सद्ज्ञान के भंडागार बनें और उस विभूति संपदा से जन-जन के कल्याण का सरंजाम जुटाएँ ॥ १०२-१०५ ॥

नारदो दर्शयामास रतानां ज्ञानसाधने ।
 ऋषीणां ता गुहा भूतकालिकानां सुमंगलाः ॥ १०६ ॥
 परिचयं तन्निवासस्य कार्यक्षेत्रस्य स व्यधात् ।
 अन्वभून्मण्डलं तच्च जातं क्षेत्रमिदं कथम् ॥ १०७ ॥
 विपिनं चान्दनं धन्यमिव वा नन्दनं वनम् ।
 जातं सुरभितं विश्वं सौरभेणास्य तत्कथम् ॥ १०८ ॥
 कारणं चैकमेवात्र क्षेत्रे बाहुल्यमत्र तु ।

ऋषीणामुच्चव्यक्तित्व - पौरुषाणां पदे-पदे ॥ १०९ ॥
 टीका—नारद जी ने ज्ञान साधना में संलग्न रहे भूतकाल के अनेकानेक ऋषियों की मंगलमय गुफाएँ दिखाईं। उनके निवास एवं कार्यक्षेत्र का परिचय कराया। सभी मंडली ने अनुभव किया कि चंदन वन-नंदन वन की तरह यह क्षेत्र क्यों धन्य बना और क्यों उसकी सुगंध संसार भर में फैली? कारण एक ही था इस क्षेत्र में ऋषि समुदाय का बाहुल्य और उनका उच्चस्तरीय व्यक्तित्व एवं पराक्रम ॥ १०६-१०९ ॥

हिमाद्रि - संगतानां तु महत्त्वानां समेऽपि ते ।
 ज्ञात्वा हेतुं रहस्यं च भृशं तोषमुपागमन् ॥ ११० ॥
 अनन्तरं विशालायां गुहायां श्रमशान्तये ।
 गतास्ते कंदमूलैश्च फलैः शान्तां व्यधुः क्षुधाम् ॥ १११ ॥
 समये चागते सन्ध्यां नियतां ते समाप्य च ।
 हापिता रात्रिरत्यर्थं पुण्ये क्षेत्रेऽत्र विह्वलैः ॥ ११२ ॥
 टीका—सभी को हिमालय के साथ जुड़ी हुई महानता का रहस्य और कारण समझने के उपरांत बहुत संतोष हुआ। बड़ी कंदरा में विश्राम के लिए चले गए। समीप ही उगे कंद फलों से क्षुधा निवृत्ति की और समय आने पर नियमित संध्या-वंदन के उपरांत इसी पुण्य क्षेत्र में भाव-विभोर उन लोगों ने रात्रि बिताई ॥ ११०-११२ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधना प्रकटीकरणयोः,
 महर्षिनारदप्रतिपादिते ऋषिप्रकरणम् इति प्रकरणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥